कोपेनहेगेन पर्यावरण सम्मेलन

पूँजीवाद के रहते पर्यावरण बचाने के सारे प्रयास विफल होंगे

'होपेनहेगेन' से 'टोकेनहेगेन' से 'ब्रोकेनहेगेन'

• अभिनव

कल्पना कीजिये कि हम एक तार्किक दुनिया में रह रहे हैं (थोड़ा मुश्किल काम दे रहा हूँ, लेकिन एक बार प्रयास अवश्य कीजिये!)। अब सोचिये कि हमें पता चलता है कि कार्बन डाई ऑक्साइड व ग्रीन हाउस प्रभाव के लिए ज़िम्मेदार कुछ गैसों के उत्सर्जन के कारण पूरी पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है और अगर उसे न रोका गया तो पर्यावरण को भारी क्षति पहुँच सकती है और उनमें से कुछ नुकसान भरपाई योग्य नहीं होंगे। इसके बाद हमें पता चलता है कि इन ग्रीन हाउस प्रभाव वाली गैसों के उत्सर्जन का मुख्य कारण है जीवाश्म से पैदा ईंधन का हमारे द्वारा अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं के लिए उपयोग। वैज्ञानिक हमें बताते कि अगर 2050 तक हमने कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रि करके तापमान को 2 डिग्री सेल्सियस बढ़ने से रोका नहीं गया तो पारिस्थितिक सन्तुलन को काफ़ी नुकसान पहुँच सकता है। लेकिन साथ ही हमें वैज्ञानिक बताते कि घबराने की कोई बात नहीं है। ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत मौजूद हैं और उन स्रोतों से उपयोग योग्य ऊर्जा के उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर कुछ विशेष तकनोलॉजियों पर शोध और कुछ विशेष यंत्रों का बड़े पैमाने पर उत्पादन ज़रूरी है। इसके लिए मानव शक्ति का संगठित उपयोग करने की आवश्यकता होगी। विश्व के विभिन्न देशों के प्रमुख इस मुद्दे पर मिलते, बातचीत करते और एकराय बनाकर समाधान को अमल में लाने की शुरुआत कर देते। जिसके पास तकनोलॉजी होती वह उसे साझा करता, जिसके पास मानव-बल होता, वह उसे साझा करता। लेकिन अफ़सोस इस पूरी अवधारणात्मक निर्मिति की नींव ही ग़लत है, इसलिए इन सारी कल्पनाओं को अपने दिमाग़ से साफ़ कर दीजिये। हम एक तार्किक दुनिया में नहीं रह रहे हैं! हम एक अराजक, मुनाफ़े की हवस में अन्धी, अव्यवस्थित, अमानवीय, और असंवेदनशील दुनिया में जी रहे हैं। हम एक पूँजीवादी दुनिया में जी रहे हैं जहाँ प्रतिस्पर्द्धा का दिव्य प्रदत्त नियम हर मानवीय संवेदना, मूल्य और सुन्दरता के ऊपर मुनाफ़े का पाटा चला रहा है; कारपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों के आपसी टकराव और उनका प्रतिनिधित्व कर रहे अलग-अलग देशों के पूँजीवादी शासक वर्गों की जूतम-पैजार में मानवता और पर्यावरण, दोनों ही पिस रहे हैं। एक विशालकाय तेल कारपोरेशन के अध्यक्ष लॉर्ड ऑक्सबर्ग ने जनवरी 2005 में ग्रीनपीस बिज़नेस लेक्चर में इस पूरी बात को आश्चर्यजनक ईमानदारी से स्वीकार कर डाला, "आपको अच्छा लगे या न लगे, हम पूँजीवाद में जी रहे हैं। अगर हम शेल कम्पनी के रूप में दुनिया में जीवाश्मीय ईंधन उत्पादों को खोजना और निकालना उनकी माँग होने के बावजूद बन्द कर दें, तो हम एक कम्पनी के रूप में असफल हो जायेंगे। शेल किसी भी आर्थिक शक्ति के रूप में समाप्त हो जाएगा।" (इंडिपेंडेंट, 26 जनवरी, 2005) अब इसी कथन से ग्लोबल वार्मिंग वैज्ञानिक जेम्स हैंसेन के कथन को जोड़कर देखें: "बुनियादी समस्या यह है कि जीवाश्मीय ईंधन ऊर्जा का सबसे सस्ता और मुनाफा देने वाला स्रोत है। जब तक वह है तब तक उसका उपयोग होना ही है।" (लण्डन टाइम्स, 3 दिसंबर, 2009) जाहिर है एक मुनाफा-केन्द्रित और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित व्यवस्था तात्कालिक मुनाफे के बारे में ही सोच सकती है, इसलिए पर्यावरण के प्रश्न पर सोच पाना उसके लिए मुश्किल होता है।

दिसम्बर 2009 में हुए कोपेनहेगन पर्यावरण सम्मेलन को जो अन्त हुआ, उसका वही अन्त हो सकता था। इस सम्मेलन में दुनिया के 130 देशों की सरकारों के प्रतिनिधि आए। सभी को पता है कि ग्लोबल वॉर्मिंग के नतीजे के तौर पर दुनिया का तापमान बढ़ रहा है और इसका ज़िम्मेदार अनियंत्रित कार्बन उत्सर्जन है और इस कार्बन उत्सर्जन का कारण जीवाश्मीय ईंधन का उपयोग है। लेकिन समस्या से लेकर उसके कारणों की जानकारी तक होने के बावजूद इस 130 देशों की सरकारें किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पायीं। क्योंकि यहाँ मसला सिर्फ़ पर्यावरण का ही नहीं था। पर्यावरण संरक्षण का अपना राजनीतिक अर्थशास्त्र है। एक पूँजीवाद दुनिया में, जो बड़े साम्राज्यवादी देशों, छोटे साम्राज्यवादी देशों, गैर-साम्राज्यवादी पूँजीवादी देशों, उन्नत देशों, पिछड़े देशों आदि श्रेणियों में बँटी हुई है, आम सहमति बनाकर कार्बन उत्सर्जन को कम करने के बोझ का न्यायपूर्ण बँटवारा भला कैसे हो सकता था? जाहिर था कि पहले से दुनिया पर दबदबा बनाए साम्राज्यवादी देश, जैसे अमेरिका, यूरोपीय संघ, जापान, आदि 'उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं' (चीन, भारत, ब्राज़ील, दक्षिण अफ्रीका, आदि) और पिछड़े देशों पर यह दबाव डालते कि

वे इस बोझ को अधिक उठायें। साथ ही यह भी स्वाभाविक था कि वे पूँजीवादी देश इसे कभी नहीं मानते जिनकी शक्ति में लगातार इजाफ़ा हो रहा है। उतना ही नैसर्गिक यह भी था कि अन्य पिछड़े हुए पूँजीवादी देश इन उभरती अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों के पीछे गोलबन्द हो जाते। यही हुआ और कोपेनहेगेन सम्मेलन किसी आम राय पर ख़त्म नहीं हुआ और बुरी तरह से असफल रहा। इसके अन्त में एक कोपेनहेगेन एकॉर्ड जारी हुआ जिस पर सभी देशों की सहमति नहीं थी। 23 जनवरी को इस एकॉर्ड के आधार पर सम्मेलन के अध्यक्ष डेनमार्क के राष्ट्राध्यक्ष लार्स रास्मुसेन ने उन्नत देशों की तरफ़ से एक पत्र मनमोहन सिंह को भेजा जिसका मनमोहन सिंह ने काफी तीखा जवाब देते हुए कहा कि जब कोई आम राय बनी ही नहीं है, तो वे कोपेनहेगेन एकॉर्ड से बँधे हुए नहीं हैं और ब्राज़ील, चीन, दक्षिण अफ्रीका के साथ मिलकर अपनी राय वे 31 जनवरी तक बतायेंगे। साथ ही, उन्होंने इन तीनों देशों से अपनी एकजुटता बनाए रखने के लिए कहा। साफ़ है कि ये उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ उन्नत साम्राज्यवादी देशों के नाजायज़ दबाव के समक्ष झुकने के लिए तैयार नहीं हैं। इन पूरे सम्मेलन में यही सबसे प्रमुख अन्तरविरोध था: विभिन्न साम्राज्यवादी शिविरों के बीच का अन्तरविरोध। इस पूरे अन्तरविरोध की अन्त:कथा जानने से पर्यावरण के राजनीतिक अर्थशास्त्र को समझने में काफ़ी मदद मिलती है।

होपेनहेगेन से टोकेनहेगेन

कोपेनहेगेन सम्मेलन शुरू होने से पहले ही दुनिया के जाने-माने अर्थशास्त्री और वैज्ञानिकगण कहने लगे थे कि इस सम्मेलन की नियति में असफलता ही लिखी है। लेकिन तमाम लोगों को इससे बड़ी आशाएँ भी थीं (होपेनहेगेन)। लोगों को लग रहा था कि हालाँकि साम्राज्यवाद मुनाफ़े की हवस में अन्धा है, लेकिन पर्यावरण का विनाश इन ख़तरनाक़ हदों तक पहुँचने लगेगा तो उसे भी सोचना ही पड़ेगा और इसलिए मानवता के अस्तित्त्व के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कोई न कोई सफल सौदा तो कोपेनहेगेन में हो ही जाएगा। कोपेनहेगेन उनका होपेनहेगेन था! लेकिन जो कुछ हुआ वह कुछ इस प्रकार था।

शुरू से ही अमेरिका व यूरोपीय संघ और जी-77 व चीन के बीच अन्तरविरोध उभरकर सामने आने लगे। यह अन्तरविरोध क्या था इसे भी समझ लेना ज़रूरी है। जी-77 (जिसमें अफ्रीका, एशिया और लातिनी अमेरिका के तमाम विकासशील और कम विकसित देश मौजूद हैं) और चीन का मानना था कि अमेरिका और यूरोपीय संघ को क्योटो प्रोटोकॉल का अनुपालन करना चाहिए। साथ ही वे बाली एक्शन प्लान को लागू करने की बात कर रहे थे। चीन, ब्राज़ील, भारत और दक्षिण अफ्रीका ने अपना गुट तैयार कर लिया जिसका नाम 'बेसिक' देश पड़ गया। बेसिक देशों का क्योटो प्रोटोकॉल पर ज़ोर होने का एक कारण है। पिछले दशक में चीन का कार्बन उत्सर्जन औसतन अमेरिका के क़रीब पहुँचने लग गया है और हालिया कुछ वर्षों में यह अमेरिका से भी ज़्यादा है। चीन की वृद्धि के आधार में कोयला और तेल आधारित उद्योग हैं। इन्हीं उद्योगों के बूते और साथ ही मज़दूरों के भयंकर शोषण के बूते चीन पिछले कई वर्षों से ज़बर्दस्त वृद्धि दर से विकास कर रहा है। अमेरिकी और यूरोपीय उन्नत अर्थव्यवस्थाएँ संकट की मार सबसे ज़्यादा झेल रही हैं और उन्हें चीन और भारत की अर्थव्यवस्थाओं से भविष्य में चुनौती मिलने की सम्भावना पैदा हो रही है। अमेरिका और यूरोपीय संघ इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं कि अगर चीन और भारत जैसे देशों पर कोई ऐसा अन्तरराष्ट्रीय समझौता थोप दिया जाय जो उन्हें जीवाश्मीय ईंधन का उपयोग सीमित रूप से करने पर बाध्य कर दे तो उनकी भावी चुनौती को पहले ही कमज़ोर किया जा सकता है। चीन की अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं और अपनी बढ़ती आर्थिक ताक़त के बूते पर बीते साल जी-20 शिखर सम्मेलन में भी उसने तमाम उन्नत देशों को अपनी कई शर्तों पर झुकाया था। चीन लातिन अमेरिका, मध्य-पूर्व और अफ्रीकी देशों में अपने निवेश को तेज़ी से बढ़ा रहा है और दुनिया भर के बाज़ारों में अमेरिका और यूरोपीय संघ को चुनौती दे रहा है। यह अमेरिका और यूरोपीय संघ के लिए भारी चिन्ता का विषय है। साथ ही, यूरोपीय संघ दोहरे तौर पर फँसा हुआ है। अमेरिका के पास तो फिर भी अपने उपयोग लायक तेल है लेकिन यूरोपीय संघ के पास तेल के भण्डार नगण्य हैं। तेल और प्राकृतिक गैस की अपनी ज़रूरतों के लिए वह पूरी तरह से रूस पर निर्भर है। रूस एक और शक्तिशाली चुनौती है जो भविष्य में अमेरिका और यूरोपीय संघ की चौधराहट का इन्तज़ार कर रही है। पुतिन और मेदवेदेव के कथनों का मूल्यांकन करें तो जाहिर होता है कि रूस अपनी पहले से मज़बूत उत्पादक शक्तियों की नींव पर तकनोलॉजी आधारित अर्थव्यवस्था की अट्टालिका के निर्माण में लगा हुआ है और ईंधन और तकनोलॉजी-सघन अर्थव्यवस्था होने के आधार पर वह दुनिया की किसी भी ताक़त को आर्थिक से लेकर सैन्य, हर मोर्चे पर चुनौती दे सकता है। यही कारण है कि वह जीवाश्मीय ईंधन के उपयोग को कम और सीमित करने के लिए यूरोपीय संघ और अधिक चिन्तित है। अब बेसिक देश या 'उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ' क्योटो प्रोटोकॉल को लागू करने की बात इसलिए करती हैं कि क्योंकि क्योटो प्रोटोकॉल दुनिया के सभी देशों को दो श्रेणियों में बाँटता है – उन्नत देश और विकासशील देश। इसमें उन्नत देशों के लिए कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लिए जो पैमाना तैयार किया गया है वह कहता है कि 1990 के कार्बन उत्सर्जन के स्तर में इन देशों को 40 प्रतिशत की कटौती करनी चाहिए। विकासशील देशों को क्योटो प्रोटोकॉल ग्लोबल वार्मिंग के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार नहीं मानता है। प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन के मामले में आज भी अमेरिका और यूरोपीय संघ चीन और भारत जैसे देशों के मुकाबले मीलों आगे हैं। इन देशों ने आज उन्नत देश होने का दर्ज़ा औद्योगिक क्रान्ति के बाद के दो सौ वर्षों में पर्यावरण को लगातार तबाह करके ही हासिल किया है। आज यूरोपीय संघ और अमेरिका जहाँ

खड़े हैं उसके पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण है। आज जब चीन और भारत जैसी अर्थव्यवस्थाएँ उसी पूँजीवादी रास्ते पर चलकर पर्यावरण को तबाह करते हुए तरक्की की सीढ़ियाँ चढ़ना चाहती हैं जो साम्राज्यवादी देश उन्हें पर्यावरण संरक्षण और हरित ऊर्जा के उपदेश दे रहे हैं। क्योटो प्रोटोकॉल को लागू करने का मतलब होगा कि वैश्विक साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ बहुत तेज़ी से पहले से दुनिया पर प्रभुत्व जमाए बैठे साम्राज्यवादी देशों के बगल में आकर खड़ी हो जायेंगी और उनके साथ ताक़त साझा करना उनकी मजबूरी बन जाएगा, जैसा कि हालिया जी-20 शिखर सम्मेलन में हुआ है।

यही कारण है कि उन्नत देशों में से अधिकांश क्योटो प्रोटोकॉल को या तो मानते ही नहीं हैं या उस पर अमल नहीं करते हैं। लेकिन वे स्वयं कोपेनहेगेन सम्मेलन में विकासशील देशों और विशेषकर चीन पर यह दबाव डाल रहे थे कि वे अपने कार्बन उत्सर्जन में कमी करें। क्योंकि अगर चीन और भारत जैसे देश ऐसा करेंगे तो वे उस वृद्धि दर पर विकास नहीं कर सकेंगे जिस वृद्धि दर पर वे पिछले लगभग तीन दशकों से कर रहे हैं। हरित विकास की तकनोलॉजी विश्व भर में बहुत अधिक उन्नत नहीं की गयी है, क्योंकि इस पर निवेश ही नहीं किया गया है। जितनी हरित तकनोलॉजी है वह भी उन्नत देशों के पास ही है और वे उसे विकासशील देशों से साझा नहीं करने वाले। अमेरिका के राष्ट्रपति बराक ओबामा शान्ति का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने और शान्ति पर लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकने और अमेरिका को उसके सभी अपराधों से दोषमुक्त करने के बाद सीधे कोपेनहेगेन पहुँचे और उन्होंने साफ़ कर दिया कि अमेरिका कार्बन उत्सर्जन में 17 से 19 प्रतिशत से अधिक कमी नहीं कर सकता, और वह भी 1990 के स्तर से 17-19 फीसदी कम नहीं बल्कि वर्तमान स्तर से 17-19 से कम। यानी, इस कटौती के बाद अमेरिका का कार्बन उत्सर्जन 1990 के स्तर पर पहुँचेगा। जबकि किसी भी अर्थपूर्ण कमी के लिए अमेरिका को अपने कार्बन उत्सर्जन में 1990 के स्तर से 40 प्रतिशत कमी करने की आवश्यकता होगी। अमेरिका का प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन औसत विश्व में सर्वाधिक है। ओबामा ने साफ़ कहा कि अमेरिका लोग एक विशेष जीवन शैली के आदी हो चुके हैं और वे उसमें समझौता नहीं कर सकते। यानी, अमेरिका भकोसने-लीलने की उपभोक्तावादी पूँजीवादी जीवन पद्धति को जारी रखेगा। दुनिया को बड़ी फिक्र है ग्लोबल वार्मिंग की तो वह घटा ले अपना कार्बन उत्सर्जन। आज अमेरिका अकेले दुनिया का एक-चौथाई से अधिक कार्बन उत्सर्जित करता है। अमेरिकी दीवालिया जीवन शैली की कीमत बाकी देश क्यों चुकायें? बेसिक देशों के नेतृत्व में दुनिया के विकासशील देशों ने कोपेनहेगेन में घुटने टेकने से इन्कार कर दिया। इसके बाद, अमेरिका और ब्रिटेन ने अपना असली रूप दिखलाया। घूस देने से लेकर बाँह मरोड़ने तक की हर तरकीब को इस्तेमाल किया गया। अनुदान रोकने, कर्ज़ देना बन्द करने से लेकर कर्ज़ माफ़ न करने तक की धमकी दी गयी। लेकिन इसका विशेष असर नहीं हुआ और विकसित देश मनमाने तरीक़े से बनाए गए कोपेनहेगन एकॉर्ड पर विकासशील देशों से हस्ताक्षर करवाने में असफल रहे। यहीं से होपेनहेगेन टोकेनहेगेन में तब्दील हो गया क्योंकि अब जो कुछ होना था वह अधिक से अधिक प्रतीकात्मक ही हो सकता था। लेकिन यह भी न हो सका।

टोकेनहेगेन से ब्रोकेनहेगेन

विकसित देशों की ओर से साज़िशाना तरीक़े से कोपेनहेगेन सम्मेलन के इस्तेमाल का काम सम्मेलन के अधयक्ष और मेज़बान देश डेनमार्क के राष्ट्रपति लार्स रास्मुसेन कर रहे थे। उनकी योजना यह थी कि जब सम्मेलन के बाकी सभी देश पर्यावरण संरक्षण के लिए सबको स्वीकार्य संभावित नीति को ढूँढने के लिए कार्यसमूहों में बहस कर रहे होंगे उस समय चुने हुए 26 विकसित देश अपनी गोपनीय बैठक करके एक समझौते का मसौदा तैयार करेंगे जो उनके हितों की रक्षा के लिए होगा। शुरुआत में ही वेनेजुएला समेत कुछ अन्य देशों ने इस ग़ैर-जनवादी कार्यपद्धति का बहिष्कार किया और कह दिया कि इसके नतीजे के तौर पर आने वाले किसी भी समझौते के वे अंग नहीं होंगे। जब सम्मेलन के आखिरी दो दिन बचे तब रास्मुसेन ने कोपेनहेगेन एकॉर्ड को बाकी देशों के सामने रखा, ताकि वे इस पर सोचने का अधिक समय न प्राप्त कर सकें और उस पर राज़ी हो जायें। लेकिन रास्मुसेन को ऐसा करते ही भारी प्रतिरोध और आलोचना का सामना करना पड़ा। अन्य प्रतिनिधियों ने रास्मुसेन पर संयुक्त राष्ट्र चार्टर, सिद्धान्तों और प्रथाओं के उल्लंघन का आरोप लगाया और इस एकॉर्ड को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

इसके बाद खुले तौर पर विकसित देशों की धमकियों और घूस देने की पेशकश का दौर शुरू हुआ। यह पूरी प्रक्रिया इतनी नंगी हो गयी जिसका अनुमान भी किसी ने नहीं लगाया था। ब्रिटेन के पर्यावरण मन्त्री एड मिलीबैण्ड ने कहा, हम अनुदान रोक लेंगे। अमेरिकी प्रतिनिधि का कहना था कि इस एकॉर्ड से जुड़ा हुआ एक फण्ड होगा जिससे कोई भी ऐसा देश पैसा ले सकेगा जो इस पर राज़ी है। यानी कि अगर अनुदान और कर्ज़ चाहिए तो हमारे द्वारा तैयार मसौदे पर दस्तख़त कर दो! लेकिन ये सारी तरक़ीबें सफल नहीं हो पाई। चीन, भारत, दक्षिण अफ्रीका और ब्राज़ील जैसे उभरते पूँजीवादी देशों का पूँजीपति वर्ग अपनी बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता के साथ अपने हितों पर अधिक से अधिक अड़ रहा है। उसने यह इशारा भी किया कि वह पूरी तरह से पिछड़े देशों के साथ नहीं है, लेकिन साथ ही उन्नत देशों को चेताया भी कि अगर ज़रूरत से ज़्यादा दबाव डालने की कोशिश की गयी तो वे उसका संगठित प्रतिरोध करेंगे।

जहाँ तक कोपेनहेगेन एकॉर्ड का प्रश्न है वह महज़ ढाई पेज का एक छोटा-सा दस्तावेज़ है। आम तौर पर संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण सम्मेलनों के दस्तावेज़ इतने छोटे कभी नहीं होते। लेकिन जब साम्राज्यवादी देशों को बस अपने आदेश थोपने का प्रयास करना हो तो वे ढाई पेज से ज़्यादा क्या लिखेंगे। इसमें

कहा गया है कि निश्चित रूप से विश्व के तापमान को 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक नहीं बढ़ने देना है और इसके लिए कार्बन उत्सर्जन में कमी करने की आवश्यकता है। लेकिन इसका बोझ किस तरह साझा किया जाएगा इसके बारे में कुछ भी साफ़-साफ़ नहीं कहा गया है। इसके बाद विकासशील देशों को ललचाने के लिए 2010 से 2012 के बीच 30 खरब डॉलर अनुदान देने की पेशकश की गयी है जो वास्तव में विकासशील देशों द्वारा कार्बन उत्सर्जन कम करने की कीमत है(या कहा जा सकता है कि खुद कार्बन उत्सर्जन करते रहने के अधिकार की कीमत। लेकिन ऐसी ही अनुदान राशि ये साम्राज्यवादी देश संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण संरक्षण अभियान को देने की घोषणा पहले ही कर चुके हैं। यह स्पष्ट भी नहीं किया गया है कि वे यह 30 खरब डॉलर अलग से देंगे या फिर वे उसी रकम की बात कर रहे हैं जो संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम को दी जाएगी। इसके अलावा उन्होंने हर वर्ष 100 खरब डॉलर कार्बन उत्सर्जन में कमी के लिए जुटाने का "प्रयास करने का वायदा" किया है। जाहिर है यह कोई प्रतिबद्धता नहीं है। लेकिन सबसे लम्बा पैराग्राफ इस बात पर है कि विकासशील देशों को कार्बन उत्सर्जन में कमी के लिए क्या करना चाहिए। हर वर्ष उत्सर्जन में कमी को नापने आदि की बात सुझायी गयी है और ओबामा ने इस एकॉर्ड की प्रस्तुति के बाद चीन पर विशेष रूप से उत्सर्जन कम करने के लिए दबाव डाला। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस एकॉर्ड पर चीन और जी-77 का एक भी देश सहमत नहीं हुआ और इसके साथ ही टोकेनहेगेन ब्रोकेनहेगेन में तब्दील हो गया। सम्मेलन असफल होकर टूट चुका था।

इसके बाद दोष मढ़ने का सिलसिला शुरू हुआ। विकसित देशों ने विशेष रूप से चीन को ज़िम्मेदार ठहराना शुरू किया। लेकिन साफ़ है कि सम्मेलन की असफलता का मुख्य कारण था क्योटो प्रोटोकॉल और बाली एक्शन प्लान को किनारे करने का साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्रयास। जबकि विकासशील देशों का ज़ोर इसी बात पर था कि क्योटो प्रोटोकॉल पर अमल किया जाय और उसके 2012 के बाद भी जारी रखा जाय।

उभरते पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग का अपने साम्राज्यवादी बड़े भाइयों से एक ही सवाल था: तुम्हारे ऐतिहासिक पापों का प्रायश्चित हम क्यों करें?

चीन और भारत जैसी उभरती पूँजीवादी ताक़तों ने, जिनकी अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं, कोपेनहेगेन में अमेरिका और यूरोपीय संघ से एक ही सवाल पूछा। पिछले 200 वर्षों में पर्यावरण को तुमने जितना तबाह किया है तो उसकी भरपाई आज हम क्यों करें? अब हम तरक्की कर रहे हैं और हमारी तरक्की कोयले और तेल पर ही टिकी है, तो उसका उपयोग तो हम करेंगे ही! ग़ौरतलब है कि वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार मानवता 2050 तक 10000 खरब टन कार्बन डाई ऑक्साइड से अधिक उत्सर्जित नहीं कर सकती। वरना धरती का तापमान 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक बढ़ जाएगा और कई द्वीप देशों का अस्तित्त्व ही समाप्त होने की नौबत पैदा हो जाएगी। इस सीमा को कार्बन स्पेस कहा जाता है। मौजूदा कार्बन स्पेस में जितना हिस्सा भर चुका है उसका 75 प्रतिशत विकसित देशों के कारण भरा है, जबकि विश्व जनसंख्या में उनकी कुल जनसंख्या का हिस्सा मात्र 19 प्रतिशत है। इसलिए अगर विकसित देश कार्बन उत्सर्जन को 1990 के स्तर से 40 प्रतिशत तक कम करने का कोई एकतरफ़ा वायदा भी करें तो उनके साथ कोई अन्याय नहीं होगा। यह तो अतीत के पाप धुलने का एक प्रयास मात्र ही माना जाएगा! दूसरी बात यह है कि विकसित देश तुरन्त कार्बन उत्सर्जन कम करने की बात नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने लिए दूरगामी लक्ष्य तय कर रहे हैं जैसे कि 2050। इसका कारण यह है कि तब तक कार्बन स्पेस का बहुत बड़ा हिस्सा वे भर डालेंगे और विकासशील देशों के लिए उत्सर्जन करने के लिए स्पेस ही नहीं बचेगा। हरित तकनोलॉजी जितनी है वह विकसित देशों के पास है और बहुत महँगी है। यानी, उसके बाद विकासशील देशों के पास कोई मौका ही नहीं रह जाएगा प्रतिस्पर्द्धा करने का! इसलिए विकासशील देशों का पूँजीपति वर्ग माँग कर रहा है कि अपने कार्बन उत्सर्जन में हम किसी कमी का वायदा तभी करेंगे जब विकसित देश अपने उत्सर्जन में क्योटो प्रोटोकॉल के अनुसार तत्काल कटौती करें।

निष्कर्ष

बताने की ज़रूरत नहीं है कि इस प्रश्न पर कोई आम सहमति बन पाना बहुत मुश्किल है। प्रतिस्पर्द्धा और बाज़ार की अन्धी ताक़तों पर टिकी एक पूँजीवादी दुनिया में विभिन्न देशों के पूँजीवादी लुटेरे कभी एकजुट होकर मानवता के दूरगामी हित के बारे में नहीं सोच सकते हैं। मुनाफे की गलाकाटू प्रतियोगिता और एक-दूसरे को ही निगल जाने की दौड़ उन्हें कभी इस प्रश्न पर सोचने की इजाज़त नहीं दे सकती। जिस पर्यावरणीय आपदा को पूँजीवादी मीडिया अक्सर मानव जनित आपदा करार देता है वह वास्तव में मानव जनित आपदा नहीं बल्कि पूँजीवाद जनित आपदा है। यह इस दुनिया का 90 फीसदी मेहनतकश अवाम नहीं है जो पर्यावरण को तबाह कर रहा है, बल्कि इस दुनिया के आदमखोर राष्ट्रपारीय-बहुराष्ट्रीय निगम हैं जो पर्यावरण को तबाह कर रहे हैं। दुनिया भर की पूँजीवादी सरकारें इन्हीं कारपोरेट पूँजीवादी हितों की नुमाइंदगी करती हैं और आपस में गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा चलाती रहती हैं। इस पूरे खेल में इंसानों की जान या पर्यावरण संरक्षण का कोई मूल्य नहीं है। यह अपने आप में एक अतार्किक व्यवस्था है जो इंसानों की ज़िन्दगी के साथ-साथ इस पूरे ग्रह को ही तबाह कर रही है। निश्चित रूप से हम उन पर्यावरणविदों की तरह निराशावादी विनाशवाद के शिकार नहीं हैं जो कहते हैं कि पर्यावरण की अपूरणीय क्षति जारी है और जल्दी ही बहुत देर हो जाएगी और यह पृथ्वी ही मानवीय जीवन के लिए अनुपयुक्त हो जाएगी। हमारा मानना है कि इस पृथ्वी के अरबों मेहनतकश जो अलग-अलग देशों में पूँजीवादी व्यवस्था और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे हैं वे ऐसे प्रलय (एपोकैलिप्स) की मंज़िल नहीं आने देंगे। उससे पहले ही यह पागल और उन्मादी पूँजीवादी

व्यवस्था उखाड़ फेंकी जाएगी और एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था के निर्माण का काम शुरू हो जाएगा। इंसान पूँजीवाद को दुनिया तबाह करने देने और चुपचाप तमाशा देखने की बजाय पूँजीवाद को ही तबाह कर डालेगा। हमें मानवता के विवेक पर पूरा भरोसा है।

दूसरी बात यह है कि "अपूरणीय क्षति", ग्लोबल वार्मिंग, ग्लेशियरों के पिघल जाने की जो बात की जा रही है वह अवैज्ञानिक भी है। पृथ्वी का भू-इतिहास बताता है कि पृथ्वी का पर्यावरण किसी सीधी रेखा में विकास नहीं कर रहा है। इसमें ग्लोबल वार्मिंग के दौर और हिम युग जैसे दौर कई बार पहले भी आ चुके हैं। हालाँकि हर बार वे पिछली बार की तरह नहीं होते। उनमें कई परिवर्तन होते हैं और साथ ही कई निरंतरता के तत्त्व भी होते हैं। इन चक्रों से होते हुए ही पृथ्वी का पर्यावरण और पारिस्थितिकी यहाँ तक पहुँची है। दूसरी बात जो हमें इस ग्रह का इतिहास बताता है कि मनुष्य में बदलती पारिस्थितिकी के अनुसार अपने आपको अनुकूलित करने की अभूतपूर्व क्षमता होती है। अगर निअण्डरथल मानव या ऑस्ट्रेलियोपिथिकस को उठाकर आज की पारिस्थितिकी में रख दिया जाय तो उसके लिए जीना बहुत कठिन हो जाएगा! तब से अब तक बदलती पारिस्थितिकी और पर्यावरण के अनुसार मानव जाति ने अपने आपको अनुकूलित किया है। आगे भी होने वाले परिवर्तनों के अनुसार मनुष्य अपने आपको अनुकूलित करेगा। जहाँ यह बात बिल्कुल सच है कि आज हो रही ग्लोबल वार्मिंग और उसके कारण हो रहे नुकसानों का अपराधी पूँजीवाद है और उसकी सज़ा यही है कि उसे इतिहास की कचरापेटी में पहुँचा दिया जाय, वहीं यह भी सच है कि ग्लोबल वार्मिंग जैसे पारिस्थितिकी परिवर्तन भविष्य में हो सकते हैं और मनुष्य इसके अनुसार अपने आपको अनुकूलित करेगा। तीसरी बात, पूँजीवाद ने पर्यावरण को क्षति पहुँचायी है उसमें अपूरणीय क्षति के पहलू पर अत्यधिक ज़ोर देना भी अवैज्ञानिक है। मनुष्य एकमात्र प्रजाति है जो प्रकृति के साथ एक सचेतन सम्बन्ध बनाती है। एक आदमखोर मुनाफा-केन्द्रित व्यवस्था में यह सम्बन्ध अन्तरविरोध का और विजय प्राप्त करने का सम्बन्ध बन जाता है। एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था में यह सम्बन्ध एक परस्पर निर्भरता और सहअस्तित्त्व का सम्बन्ध भी बन सकता है। मनुष्य पर्यावरण से जितना लेता है उतना ही उसे लौटा भी सकता है। अगर वह पर्यावरण से अपने तमाम संसाधनों को लेता है तो वह पर्यावरण को रीजेनरेट भी कर सकता है। यह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध तथ्य है।

अब अन्त में एक बार फिर से यह कल्पना की जाय कि हम एक तार्किक व्यवस्था में जी रहे हैं। ऐसे में हम निश्चित रूप से पर्यावरण को और समृद्ध, सुन्दर और वैविधयपूर्ण बनाने के लिए मानव ऊर्जा का सूक्ष्मतम और व्यापकतम उपयोग करेंगे। चूँकि मुनाफ़ा और निवेश मानव प्रयासों के रास्ते में अब बाधा नहीं रह गये होंगे, इसलिए ऐसे कामों को अंजाम देने के लिए सिर्फ़ चार ही चीज़ों की आवश्यकता होगी-विवेक, इच्छा, योजना और संगठित मानव प्रयास। हम पर्यावरण के साथ एक परस्पर निर्भरता और सहअस्तित्त्व के साथ रहना सीखेंगे और सिखायेंगे। यह एक ऐसी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है जिसमें मुनाफ़े की ख़ातिर मनुष्य द्वारा मनुष्य द्वारा शोषण समाप्त हो जाए; जिसमें निजी मालिकाने और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा की जगह सामूहिक मालिकाने और संगठित मानव प्रयास ले लें; जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो और फैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में हो!

तीन नयी महत्त्वपूर्ण बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**	अभिनव	15.00
2.	**फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**	अभिनव	15.00
3.	**नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**	आलोक रंजन	50.00

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020